पिछड़ी हुई हिंदी आलोचना बनाम हिंदी वैचारिकी

Pramod Ranjan

▶ **To cite this version:**

Pramod Ranjan. पिछड़ी हुई हिंदी आलोचना बनाम हिंदी वैचारिकी. समयांतर [Samayantar], 2024, 56 (5), pp.37-39. ⟨10.17613/yc94-vh70⟩. ⟨hal-04466746v2⟩

HAL Id: hal-04466746

https://hal.science/hal-04466746v2

Submitted on 21 Mar 2024

HAL is a multi-disciplinary open access archive for the deposit and dissemination of scientific research documents, whether they are published or not. The documents may come from teaching and research institutions in France or abroad, or from public or private research centers.

L'archive ouverte pluridisciplinaire **HAL**, est destinée au dépôt et à la diffusion de documents scientifiques de niveau recherche, publiés ou non, émanant des établissements d'enseignement et de recherche français ou étrangers, des laboratoires publics ou privés.

Distributed under a Creative Commons Attribution 4.0 International License

विचार और संस्कृति का मासिक

समयांतर

ISSN 2249 - 0469

असहमति का साहस और सहमति का विवेक

मार्च, 2024 www.samayantar.com वर्ष : 56, अंक : 3 मूल्य : 30 रुपए

भारतीय उपमहाद्वीप और लोकतंत्र के कदम

रामशरण जोशी

•

सत्ता-कॉरपोरेट के अवैध गठजोड़ का आधार

यूसुफ किरमानी

•

भ्रष्टाचार का संस्थानीकरण

शैलेंद्र चौहान

इस अंक में

जनता की निगरानी यानी अनवरत जनगणना का खेल
- गोपाल कृष्ण

•

पिछड़ी हुई हिंदी आलोचना
- प्रमोद रंजन

•

आरक्षण भक्षण के दौर में गैर पुरसाहाल
- बी के लोधी

•

शोध

चीन पाकिस्तान आर्थिक गलियारा
- शरद पंडित पाटिल

•

जंगल के जोगी जाग रहे
- वेदव्यास

•

साक्षात्कार

मेरा प्रकाशन वामपंथ आधारित है
- प्रकाश चंद्रायन का श्याम बिहारी राय से साक्षात्कार

•

संगीत

किसान आंदोलन और प्रगतिशील संगीत
- रजिंदर सिंह

समयांतर

स्थापना वर्ष : 1970

पुनर्प्रकाशन: अक्टूबर, 1998 से निरंतर

ISSN 2249-0469

संपादक : **पंकज बिष्ट**

व्यवस्था : **ठाकुर प्रसाद चौबे**

व्यवस्था सहयोग : **सुशील शर्मा**

टाइपसेट : **राधा**

चंदे की दरें

सामान्य : एक वर्ष : **रु. 350;**
दो वर्ष : **रु. 600**
तीन वर्ष : **रु. 850;**
पांच वर्ष : **रु. 1350**
मित्र : एक वर्ष : रु. 500; दो वर्ष : रु. 800
तीन वर्ष : रु. 1000; पांच वर्ष : रु. 1500

रजि. डाक से रु. 400 वार्षिक अतिरिक्त

छात्रों के लिए :
एक वर्ष : **रु. 250;** दो वर्ष : **रु. 350**
(प्रमाण पत्र प्रस्तुत करने पर)

संस्थाओं के लिए : एक वर्ष : **रु. 500.00**
(रजिस्टर्ड डाक से मंगवाने के लिए एक वर्ष के कृपया रु. 350 अतिरिक्त भेजें)

विशेष सहयोग
आजीवन : **दस हजार रुपए**
दस वर्ष : **पांच हजार रुपए**

बैंकके माध्यम से शुल्क भेजने के लिए
Samayantar Current a/c
No. 27520200000094
IFSC codeÑ BARB0MAYVIH
Bank of Baroda, Mayur Vihar Ph.-I,
Delhi-110091

कृपया रेमिटेंस की सूचना तत्काल ईमेल अथवा एसएमएस से दें।

समयांतर, 79-ए, दिलशाद गार्डन, दिल्ली-110095
फोन : 9667685659 (संपादकीय)
9810636082 (व्यवस्था)

email: samayantar.monthly@gmail.com
samayantar@yahoo.com

नोट: *समयांतर* से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे।

इस अंक में

मार्च, 2024, वर्ष : 56, अंक : 3

संपादकीय

5. **राजनीति और नैतिकता**

समाचार-संदर्भ

7. **बर्फ के मौसम में आग**–अतुल सती

विचार

10. **सत्ता-कॉरपोरेट के अवैध गठजोड़ का आधार**–यूसुफ किरमानी
14. **भारतीय उपमहाद्वीप और लोकतंत्र के कदम?** – रामशरण जोशी
18. **भ्रष्टाचार का संस्थानीकरण** – शैलेंद्र चौहान
21. **जनता की निगरानी यानी अनवरत जनगणना का खेल** – गोपाल कृष्ण
26. **आरक्षण भक्षण के दौर में गैर पुरसाहाल** – बी के लोधी
28. **बालाकोट के भुला दिए गए सबक** – सुशांत सिंह
30. **चीन पाकिस्तान आर्थिक गलियारा** – शरद पंडित पाटिल
33. **'लोक कल्याण मार्ग' से 'डाउनिंग स्ट्रीट' तक** – रामशरण जोशी

साहित्य और संस्कृति

37. **पिछड़ी हुई हिंदी आलोचना बनाम हिंदी वैचारिकी** –प्रमोद रंजन
40. **जंगल के जोगी जाग रहे** –वेदव्यास
41. **'मेरा प्रकाशन वामपंथ आधारित है'**
–श्याम बिहारी राय से प्रकाश चंद्रायन की बातचीत
42. **किसान आंदोलन और प्रगतिशील संगीत** –रजिंदर सिंह
44. **अर्धशती का लेखा-जोखा** –राजेंद्र भट्ट
46. **महिलाओं के अधिकारों और आंदोलनों पर एक नजर** –श्रुति जैन
48. **क्या यह हिंदी जाति की बौद्धिकता का अवसान काल है?**
–स्वदेश कुमार सिन्हा

श्रद्धांजलि

49. **कुमार शहानी** –राजीव कुमार

गाजा में बमबारी: सौजन्य *अल जजीरा*
देखें: **पृष्ठ 9**

आवरण दो

कविताएं : **लाल्टू**

पिछड़ी हुई हिंदी आलोचना बनाम हिंदी वैचारिकी

प्रमोद रंजन

यह बात पहले भी कही जाती रही है कि हिंदी आलोचना की स्थिति दयनीय है। लेकिन इस आरोप का दायरा रचनात्मक साहित्य की अच्छी समीक्षाएं नहीं आने तक ही सीमित रहा है। आलेख इस बात को रेखांकित करता है कि किस प्रकार हिंदी आलोचना की अकर्मण्यता सांप्रदायिक तत्वों को सत्ता तक पहुंचाने में सहायक हुई। साथ ही प्रस्तावित करता है कि 'हिंदी आलोचना' जैसे कम प्रासंगिक अनुशासन की जगह 'हिंदी वैचारिकी' के नाम से अधिक समावेशी अनुशासन को विकसित और स्वीकृत किया जाना चाहिए। इससे उस साहित्येत्तर लेखन को भी प्रतिष्ठा मिल सकेगी, जो समाज और राजनीति को दिशा में देने में सक्षम है।

भारतीय राजनीति में सांप्रदायिक व प्रतिक्रियावादी ताकतों को सत्ता तक पहुंचाने में हिंदी पट्टी का सबसे बड़ा योगदान है। इसका मुख्य कारण इस पट्टी में कार्यरत समाजवादी व जनपक्षधर हिरावल दस्ते का विचारहीन, अनैतिक और प्रतिक्रियावादी होते जाना है। अगर हम उपरोक्त बातों को स्वीकार करते हैं, तो कुछ रोचक निष्कर्ष निकलते हैं।

हिंदी-जनता और उसके हिरावल दस्ते को विचारहीन और प्रतिक्रियावादी बनने से रोकने की मुख्य जिम्मेदारी किसकी थी? निश्चित तौर पर यह जिम्मेदारी लेखकों और विचारकों की थी। उन्हें ही ऐसे विचारों को निरंतर उत्पादित और प्रसारित करते रहना था, जो जनता को, और विशेष तौर पर उसके हिरावल दस्ते को, प्रगतिशील मार्ग पर उन्मुख रखे। बल्कि उन्हें उस मार्ग को और प्रशस्त और बहुविकल्पी भी बनाना था।

सद्भाव, धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक जीवन में उच्च नैतिकता, जैसे मूल्य भारत की आजादी के समय बने थे, उन्हें उनमें सामाजिक समता, व्यक्तिगत स्वतंत्रता जैसे मूल्यों और 'विज्ञान और तकनीक के दुष्प्रभावों की निगरानी' जैसे नए विचारों से जोड़ना था।

बहरहाल, पहले यह विचार करें कि हिंदी में ये 'लेखक-विचारक' कौन हैं, जिन पर उपरोक्त जिम्मेदारी थी? क्या ये वे ही नहीं हैं, जिन्हें हम 'हिंदी-आलोचक' कहते हैं? हिंदी में विचारक, दार्शनिक आदि नहीं होते। ठीक वैसे ही, जैसे जीवविज्ञानी, कंप्यूटर साइंटिस्ट, मानवशास्त्री आदि नहीं होते। हिंदी में सिर्फ दो श्रेणियों में काम करने वाले लोग प्रतिष्ठित हैं। एक तो वे जो रचनात्मक लेखन करते हैं, यानी कविता, कहानी, उपन्यास वाले और दूसरे उसकी आलोचना करने वाले।

आलोचकों का मुख्य काम रचानात्मक साहित्य के कथ्य को प्रचारित-प्रसारित करना रहा है। जैसा कि रामचंद्र शुक्ल, रामविलास शर्मा या नामवर सिंह करते रहे और मौजूदा आलोचक भी कर रहे हैं। वे ही 'जनता' को प्रेमचंद, जैनेंद्र, अज्ञेय, रेणु से लेकर समकालीन लेखक तक का महत्त्व बताते हैं।

अगर रामचंद्र शुक्ल के समय से देखें तो पिछली लगभग एक सदी में आलोचना की जकड़बंदी इतनी कड़ी रही कि हिंदी साहित्यकार उनके सामने प्रायः चूं तक नहीं कर सका। प्रमुख आलोचकों ने जिन साहित्यकारों से आंखें फेर लीं, उनके विचार अंधेरे में कहीं गुम हो गए। वे साहित्य-जगत के पुरोहित हैं, जो ईश्वर और भक्त के बीच की अनुलंघनीय कड़ी बन गए हैं। जाहिर है, इसके अपवाद भी रहे हैं। लेकिन अपवाद तो अपवाद होते हैं।

इस आधुनिक आलोचक की उत्पत्ति के बीज रीति-काल के दरबारों में खोजे जाने चाहिए। रीति-काल का पहला पूर्णकालिक आलोचक दरबार का कोई अधिकारी, या कोई चुक चुका कोई कवि रहा होगा। जैसे रिटायर क्रिकेटर कमेंटरी करने लगता है, वैसे ही चुक चुका कवि अपने संचित अनुभव का लाभ नए कवियों को देकर दरबार में अपनी जगह बचाए रखता होगा। उसके द्वारा बांटे गए अनुभवों में काव्य-कला के अतिरिक्त वह सारा व्यावहारिक ज्ञान भी होता होगा, जो एक कवि के दरबार में ऊपरी श्रेणी तक पहुंचने और अपनी जगह बनाए रखने के लिए जरूरी होता होगा। क्या वह अपनी काव्य चौर्य-कला के गुर भी नए कवियों को सिखाता होगा? उन्हें बताता होगा कि बिना मौलिकता के भी कैसे काव्य रचा जा सकता है? इतना तो तय है कि मौजूदा समय की तरह धीरे-धीरे उसके चेले-चपाटों का समूह भी निर्मित होता होगा, जो उसके जीवन की षष्टिपूर्ति, स्वर्ण जयंती से मिलते-जुलते आयोजन करता होगा। यह अकारण नहीं है कि रीतिकाल के लक्षण-ग्रंथों से ही आधुनिक हिंदी आलोचना आरंभ माना जाता है। तो, क्या इसलिए उसकी ही सामंती, पोंगपंथी और कोल्हू के बैल वाली प्रवृत्तियां बाद की आलोचना में भी सबल रहीं?

रचनात्मक लेखन और आलोचना, दोनों के कम प्रभावी होने का एक और कारण यह है कि हिंदी की दुनिया में श्रम के प्रति बहुत गहरी हिकारत का भाव है। यहां कथित प्रतिभा का बोलबाला है, जो ज्यादातर मामलों में अभी तक जाति आधारित श्रेणीक्रम के साथ संबद्ध है। प्रतिभा के साथ श्रम के सामंजस्य को पतन माना जाता। हिंदू धर्म-व्यवस्था में इन दोनों के मिलने से वर्णसंकर जाति पैदा होती है, जिन्हें जाति बहिष्कृत कर अपेक्षाकृत

निचले दर्जे में भेज दिया जाता है। इसे समझने के लिए कृषि कर्म में उतरी ब्राह्मणों की एक विशिष्ट जाति के निर्माण की कथा को याद किया जा सकता है।

इस सबके बावजूद, हिंदी के मौजूदा रचनात्मक साहित्य में तो फिर भी कुछ है। कम-से-कम वहां अनेक चीजों का दस्तावेजीकरण जारी है। हालांकि हिंदी में कोई रवींद्र नाथ ठाकुर नहीं हुआ, जिसकी बौद्धिकता की सीधी पहुंच अपनी जनता तक हो। हिंदी-पट्टी में यह कमाल कबीर जैसों ने अवश्य किया था; लेकिन वह सदियों पहले की बात है। भक्ति काव्य का निगुर्ण साहित्यकार सीधे जनता से जुड़ा होता था। आज तो, जैसा कि कहा जा चुका है, लेखक का महत्व तब तक चिन्हित नहीं हो सकता, जबतक उस पर आलोचना की मुहर न हो।

इसलिए कई कारणों से, जिनमें लेखन की अलग प्रकृति भी शामिल है, रचनात्मक लेखन करने वालों को हिंदी समाज में आए वैचारिक पतन के लिए उतना जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता, जितना आलोचकों को।

बहरहाल, हम मौजूदा दौर में लौटें। अगर आज की तस्वीर को थोड़ा और सगुण रूप से देखें कि आज के आलोचक वास्तव में कौन हैं? आप पाएंगे कि ये सबके-सब विश्वविद्यालयों से या ऐसे ही किसी संस्थान से संबद्ध हैं। चूंकि राजसत्ता आज पहले की तुलना में अधिक विशाल और ताकतवर है, इसलिए इनके पास पिछले वालों की तुलना में अधिक संस्थागत सुविधाएं और शक्तियां हैं। जिसका उपयोग-दुरुपयोग ये करते रहे हैं। इन संस्थागत विशेषाधिकारों और सहुलियतों के कारण उनमें आम लोगों से जुड़ने की न कुव्वत रह गई, न ही उन्हें इसकी कोई आवश्यकता महसूस होती है।

अब जरा यह भी विचार करेंगे कि आज के इस हिंदी-आलोचक को अपने कंधे पर कितनी जिम्मेदारियों को उठानी होती हैं? हिंदी-आलोचक सिर्फ एक साहित्यिक-आलोचक (लिटररी क्रिटिक) नहीं होता है। उसे बहुआयामी होना होता है। एक ओर वह कविता की परिभाषा देता है, तो दूसरी ओर करुणा और प्रेम पर बात करते हुए मनोविज्ञान पर भी अपनी राय देता है। वह धर्म से लेकर इतिहास, समकालीन राजनीति सब पर विचार व्यक्त करता है। एक ओर नवजागरण की राजनीति का सैद्धांतिकरण करता है, तो दूसरी ओर वह किस पार्टी को वोट दिया जाए, इसका भी संकेत करता है। इस प्रकार, हिंदी-आलोचक एक ऐसा हरफन मौला प्राणी होता है, जिसकी गति दिग्दिगंत तक होती है तथा किसी भी क्षेत्र को वह अपनी क्षमता से परे नहीं मानता है।

हालांकि यह एक सराहनीय बात मानी जानी चाहिए अगर एक बौद्धिक कई विषयों को अपने कार्यक्षेत्र के दायरे में रखता है और समसामयिक प्रसंगों पर सचेत है। भारत जैसे अनुन्नत समाज के बौद्धिक का काम सिर्फ एक विषय का विशेषज्ञ बनने से नहीं चलेगा। उसका उत्तरदायित्व सचमुच कहीं अधिक बड़ा है। उसे जन-बुद्धिजीवी बनने की कोशिश करनी ही करनी चाहिए। लेकिन त्रासदी यह है कि अधिकांश मामलों में हिंदी-आलोचक का व्यवहार 'जैक ऑफ ऑल ट्रेड्स, मास्टर ऑफ नन' जैसा होता है। कुछ अपवादों को छोड़ दें तो उनमें से अधिकांश सब कुछ इतना गंभीर होकर करते हैं कि उनका किया कुछ भी किसी के पल्ले नहीं पड़ता, चारों ओर नैराश्य और मुर्दानगी फैलती है वह अलग। उनमें कुछ अखिलेश की कहानी शापग्रस्त के उस मध्यवर्गीय पात्र याद दिलाते हैं, जो मास्टर की तरह 'झेंपा-झेंपा' सा रहने वाला कूपमंडूक है। तमाम क्रांतिकारी किस्म की बातें करने के बावजूद जिनके सरोकार अपनी निजी मध्यमवर्गीय आकांक्षाओं तक सीमित हैं।

फिर भी कुल मिलाकर यह तो है ही कि जैसा भी है, हिंदी की दुनिया का सर्वेसर्वा आलोचक ही है। वह स्वयं भी ऐसा ही मानता है।

हम यह भी देखते हैं कि अधिकांश मामलों में यह हिंदी-आलोचक स्वयं को प्रगतिशील, समाजवादी, मार्क्सवादी आदि कहता है। तो विचारणीय यह है कि हिंदी में पिछले दशकों में ऐसा काम कैसे हुआ कि वैज्ञानिक चेतना की घोर-विरोधी, नग्न रूप से प्रतिक्रियावादीऔर घोषित रूप से सांप्रदायिक ताकतें देश की सत्ता पर काबिज हो गईं? अब वे उन आधुनिक मूल्यों को तेजी से नष्ट करते हुए आगे बढ़ रही हैं, जो पिछली कुछ सदियों में बूंद-बूंद कर सृजित हुए थे और जो देश की आजादी के बाद एक उदार, समतामूलक, समावेशी संविधान के साथ कमोबेश संतोषजनक रूप से फल-फूल रहे थे।

क्या हम याद कर सकते हैं कि इन मूल्यों की रक्षा के लिए हिंदी-आलोचना में कोई जिद, कोई पहल अंतिम बार कब दिखायी दी थी? यह एक अच्छे-खासे शोध का विषय है। इस शोध से जो सामने आएगा, उसे अकादमिक रिसर्च की दुनिया में 'शून्य परिणाम' (नल्ल रिजल्ट) के नाम से जाना जाता है।

जबकि उन्हें ध्यान रखना था कि कोई भी चीज स्थिर नहीं रहती। विचार भी नहीं। ऊंचाई पर पहुंची हुई कोई चीज अगर ऊर्ध्वगति में नहीं रहती, तो नीचे गिरने लगती है। अगर आप विचारों को निरंतर परिमार्जित और नई-नई पहलों के माध्यम से विकसित नहीं करते रहेंगे तो वे नीचे की तरफ फिसलने लगेंगे, यानी उनका पतन होने लगेगा। हमने देखा कि यही हुआ भी।

याद करें कि क्या हिंदी-आलोचक खाने-पीने की आजादी के पक्ष में रहा? उसने कभी कहा कि गाय भी वैसा ही एक जानवर है, जैसे भैंस, सूअर और बकरी? क्या उसने कभी कहा कि हमें धर्मनिरपेक्षता से आगे धर्म-पंथ मुक्त समाज की ओर जाना है? क्या उसने कभी कहा कि जब तक धर्म और पंथ मौजूद है तब तक धर्मांतरण भी एक मौलिक अधिकार होना चाहिए?

हिंदी-आलोचकों ने कभी कहा कि किसी के लिखने-बोलने से धर्म-पंथ से जुड़ीं भेदभाव करने वाली भावनाएं अगर आहत होती हैं, तो उन्हें होने देना चाहिए? कभी कहा कि ऐसी भावनाओं को आहत करना साहित्य समेत सभी बौद्धिक विमर्शों और ज्ञान के सभी अनुशासनों के लिए एक जरूरी कार्य है, जिसे और तेजी से करने की जरूरत है? क्या कभी उसने सोचने की जहमत उठाई कि हमारी नागरी लिपि तकनीक की दुनिया में इतनी पीछे क्यों छूट रही है और इसके क्या परिणाम होंगे? क्या उसने कभी कहा कि 'देवनागरी' नहीं, हमारी लिपि का नाम 'नागरी' है और उसमें 'देव' लगाने वाले लोग हमारी लिपि और भाषा का सांप्रदायिकरण कर रहे हैं। जाहिर है, ये सवाल बानगी के लिए हैं।

पिछले कुछ वर्षों से विश्वविद्यालयों से संबद्ध उन मुखर बुद्धिजीवियों को प्रताड़ित

किया जा रहा है, जो या तो सरकार की नीतियों की विरोध करते हैं, या बढ़ती हुई धर्मांधता के खिलाफ कक्षा में या उसके बाहर लिखते-बोलते हैं। सांप्रदायिक और प्रतिक्रियावादी तत्वों के सत्ता में होने पर यह स्वभाविक ही है।

लेकिन क्या हिंदी आलोचना ने कभी इन सवालों को उठाया कि अभिव्यक्ति की आजादी जितनी एक पत्रकार, एक स्वतंत्र लेखक को है; उतनी ही सरकारी नौकर को भी होनी चाहिए? क्या उसने कभी सोचा कि इस विकासशील देश में नौकरी करने वाले लोग ही असली मध्य वर्ग का निर्माण करते हैं, उनकी अभिवक्ति की आजादी बहुत महत्वपूर्ण है? जब सूचना का अधिकार, शिक्षा का अधिकार आदि हो सकता है, तो सरकारी नौकरों के लिए भी अभिव्यक्ति का अधिकार देने से कौन-सा पहाड़ टूट जाएगा? दुनिया के कई देशों में सरकारी कर्मचारियों की अभिव्यक्ति को नहीं कुचला जाता तो भारत में ऐसा प्रावधान क्यों है?

ऐसे सवालों पर पहल के लिए जैसी गहरी वैचारिक निर्मिति और मौलिकता जरूरत थी, वह क्यों सिरे से नदारद है? जैसा कि पहले कहा गया कि हिंदी आलोचक ही हिंदी-पट्टी का एकमात्र प्रभावशाली बुद्धजीवी है। यह उसी की जिम्मेदारी थी। लेकिन वह अपनी उस वैचारिक धूरी से बमुश्किल कुछ कदम आगे बढ़ सका है, जहां वह रामचंद्र शुक्ल के जमाने में था। जबकि जमाना कहां से कहां पहुंच गया और उसके विरोधियों ने इस बीच कितना लंबा सफर तय कर लिया!

चीजों को इस तरह देखने पर हम पाते हैं कि साहित्य और आलोचना जितनी निरीह और अप्रभावी लगती है, उतनी न पहले थी, न आज है। उसका प्रभाव होता है। सकारात्मक हो अथवा नकारात्मक। इसके द्वारा कुछ 'न' करने का भी असर समाज और राजनीति पर होता है। इसलिए जब हम कह सकते हैं कि सांप्रदायिकत तत्वों को सत्ता में लाने में हिंदी आलोचना की भूमिका है, तो इस बात के पुख़्ता आधार हैं। उनके इस कृत्य में उनकी अवसरवादी-अकर्मण्यता की सबसे बड़ी भूमिका है।

यह तो बार-बार कहा ही जाता रहा है कि हिंदी में रचनात्मक साहित्य और उसकी आलोचना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसमें न मौलिक प्राकृतिक विज्ञान है, न ही समाजशास्त्र। लेकिन आप देखें कि साहित्यिक विमर्श के क्षेत्र में भी वर्षों से कोई उल्लेखनीय विचार-विमर्श नहीं हो रहा है। पिछले 60 साल से अधिक से हिंदी साहित्य 'समकालीन' बना हुआ है और 30 साल से अधिक से इसने अपने एक हिस्से को दलित बनाया हुआ है, वह उसे मुख्यधारा का हिस्सा मानने को तैयार नहीं है। वे नए विचारों, नए आलोड़नों की ओर पीठ किए हुए बढ़ रहे हैं। उन्होंने अपनी कल्पना में समय को रोक दिया है और एक ही जगह चक्कर काट रहे हैं। लेकिन यह नहीं देख पा रहे हैं कि हम आगे नहीं जा रहे, बल्कि किंचित पीछे ही लौट रहे हैं।

हिंदी-आलोचना भयावह दुहराव की शिकार है और, भाषा आधारित एक ऐसे पाखंड का बोलबाला है, जिसे भावी पीढ़ियां निश्चित तौर चिन्हित करेंगी और लानत भेजेंगी। क्या आप जानते हैं कि हिंदी में जो आलोचना लिखी जा रही है, उसके एक बड़े हिस्से का किसी अन्य भाषा में अनुवाद नहीं हो सकता? ऐसा इसलिए कि ऐसी आलोचनाओं का अधिकांश हिस्सा महज भषाई-पाखंड होता है। एक द्विभाषी पत्रिका के संपादक के तौर पर इस लेखक को बार-बार ऐसे अनुभवों से गुजरना पड़ता है। हिंदी से अंग्रेजी में अनुवाद करने वाले सुयोग्य, साहित्यिक क्षमता से लैस साथियों ने दर्जनों बार ऐसी सामग्री का अनुवाद करने से इंकार कर दिया है। वे बताते थे उन पाठों (टेक्सटों) में अनुवाद के लिए उतरने पर वे पाते हैं, वहां निरर्थक पद-बंधों, उपमाओं आदि की भरमार है और वास्तव में उनके भीतर कोई अर्थ नहीं है। कविता की आलोचना के मामले में तो यह भाषाई-पाखंड अपने चरम पर होता है।

हिंदी आलोचना इतनी पिछड़ती गई है कि वह कुछ नया देने की स्थिति में तो नहीं ही है, और लगता है कि उधार लेने की कुव्वत भी इसमें नहीं रही है। यह आलोचना मध्यवर्गीय सीमाबद्धता और प्राध्यापकीय कूंपमंडूकता की इस कदर शिकार है कि वहां से कुछ भी मौलिक आने की संभावना शून्य है।

चूंकि वह स्वयं कोई नई शुरुआत करने की स्थिति में दिखायी नहीं देती; तो ऐसे में उपाय क्या है? वस्तुतः 'हिंदी-आलोचना' शब्द-बंध का रूढ़ अर्थ स्वयं ही इसके दायरे को रचनात्मक साहित्य तक सीमित कर देता है। इसकी जगह 'हिंदी-वैचारिकी' का प्रयोग करें तो संभव है कि फर्क पड़े। इससे हम साहित्य और साहित्येत्तर दोनों दुनियाओं पर नजर रख सकेंगे, जो आज की सबसे बड़ी जरूरत है। लेकिन, इसके लिए आवश्यक होगा कि इसे विश्वविद्यालयों के हिंदी विभागों के सर्वग्रासी देवों के चंगुल से बचाया जाए।

'हिंदी वैचारिकी' शब्द-बंध का प्रयोग पहले भी होता रहा है, लेकिन यह एक अस्पष्ट अवधारणा वाला, हाशिए का शब्द रहा है। इसका पारिभाषिक विस्तार करने और केंद्र में लाने की आवश्कता है। दूसरे शब्दों में कहें तो 'हिंदी आलोचना' जैसे पिछड़ चुके अनुशासन की जगह 'हिंदी वैचारिकी' के नाम से अधिक समावेशी, अधिक सार्थक और अधिक प्रासंगिक अनुशासन को विकसित और स्वीकृत किया जाना चाहिए। इसी 'हिंदी वैचारिकी' का एक हिस्सा 'हिंदी आलोचना' भी रहे।

'हिंदी वैचारिकी' सवाल कर सकेगी कि अब तक क्यों नहीं हिंदी में उनका नाम भी उसी सम्मान से लिया जा रहा था, जो साहित्येत्तर विषयों पर काम कर थे तथा समाज और राजनीति को दिशा देने में अधिक सक्षम थे? और, यह कि हिंदी में अब तक हमने सबकुछ को इतना साहित्यमय क्यों बना रखा था?

'हिंदी वैचारिकी' जनता के उस तबके के साथ तब एकमेव हो सकती, जो अपने तरीके से प्रतिरोध कर रहा है। अपने साहित्यिक मिजाज के कारण यह 'आलोचना' के वश का काम नहीं है। 'वैचारिकी' विदेशों में हो रहे विमर्शों पर भी ईमानदारी से नजर रख सकती और इस भ्रम से बाहर रह सकती है कि वह प्रचंड प्रतिभा या किसी दुर्लभ परंपरा की वाहक है।

वह अपने स्वभाव से ही अंतर-अनुशासनिक होगी और अधिक प्रखर बौद्धिकता लिए होगी, इसलिए उन सवालों को उठा सकेगी, जिनकी चर्चा इस लेख में पहले की गई। जाहिर है यहां से वह रास्ता निकल सकता है, जिसकी हमें तलाश है। ■